।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ तृतीयोऽध्यायः

अध्याय दो में भगवान श्रीकृष्ण ने बताया कि यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानमार्ग के विषय में कही गयी। कौन-सी बुद्धि? यही कि युद्ध कर। जीतोगे तो महामहिम की स्थिति प्राप्त कर लोगे और हारोगे तो देवत्व है। जीत में सर्वस्व है और हार में भी देवत्व है, कुछ मिलता ही है। अतः इस दृष्टि से लाभ और हानि दोनों में कुछ-न-कुछ मिलता ही है, किञ्चित् भी क्षति नहीं है। फिर कहा - अब इसी को तू निष्काम कर्मयोग के विषय में सुन, जिस बुद्धि से युक्त होकर तू कर्मों के बन्धन से अच्छी प्रकार छूट जायेगा। फिर उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला। कर्म करते समय आवश्यक सावधानियों पर बल दिया कि फल की वासना वाला न हो, कामनाओं से रहित होकर कर्म में प्रवृत्त हो और कर्म करने में तेरी अश्रद्धा भी न हो, जिससे तू कर्मबन्धन से मुक्त हो जायेगा। मुक्त तो होगा; किन्तु रास्ते में अपनी स्थिति नहीं दिखायी पड़ी।

अतः अर्जुन को निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग सरल और प्राप्तिवाला प्रतीत हुआ। उसने प्रश्न किया - जनार्दन! निष्काम कर्म की अपेक्षा ज्ञानमार्ग आपकी दृष्टि में श्रेष्ठ है तो मुझे भयंकर कर्म में क्यों लगाते हैं? प्रश्न स्वाभाविक था। मान लें, एक ही स्थान पर जाने के दो रास्ते हैं। यदि आपको वास्तव में जाना है, तो आप अवश्य प्रश्न करेंगे कि इनमें सुगम कौन है? यदि नहीं करते तो आप पथिक नहीं। ठीक इसी प्रकार अर्जुन ने भी प्रश्न रखा-

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।१।।

जनों पर दया करनेवाले जनार्दन! यदि निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञानयोग आपको श्रेष्ठ मान्य है, तो हे केशव! आप मुझे भयंकर कर्मयोग में क्यों लगाते हैं?

निष्काम कर्मयोग में अर्जुन को भयंकरता दिखाई पड़ी; क्योंकि इसमें कर्म करने में ही अधिकार है, फल में कभी नहीं। कर्म करने में अश्रद्धा भी न हो और निरन्तर समर्पण के साथ योग पर दृष्टि रखते हुए कर्म में लगा रह। जबकि ज्ञानमार्ग में हारोगे तो देवत्व है, जीतने पर महामहिम स्थिति है। अपनी लाभ-हानि स्वयं देखते हुए आगे बढ़ना है। इस प्रकार अर्जुन को निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग सरल प्रतीत हुआ। इसलिए उसने निवेदन किया-

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।२।।

आप इन मिले हुए से वचनों से मेरी बुद्धि मोहित-सी करते हैं। आप तो मेरी बुद्धि का मोह दूर करने में प्रवृत्त हुए हैं। अतः इनमें से एक निश्चय करके कहिये, जिससे मैं '**श्रेय**'- परमकल्याण मोक्ष को प्राप्त हो जाऊँ। इस पर श्रीकृष्ण ने कहा-

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।३।।

निष्पाप अर्जुन! इस संसार में सत्य-शोध की दो धाराएँ मेरे द्वारा पहले कही गयी हैं। पहले का तात्पर्य कभी सत्ययुग या त्रेता में नहीं, बल्कि अभी जिसे दूसरे अध्याय में कह आये हैं। ज्ञानियों के लिए ज्ञानमार्ग और योगियों के लिए निष्काम कर्ममार्ग बताया गया। दोनों ही मार्गों के अनुसार कर्म तो करना ही पड़ेगा। कर्म अनिवार्य है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।४।।

अर्जुन! मनुष्य न तो कर्मों को न आरम्भ करने से निष्कर्मता की अन्तिम स्थिति को प्राप्त होता है और न आरम्भ की हुई क्रिया को त्यागने मात्र से भगवत्प्राप्तिरूपी परमसिद्धि को ही प्राप्त होता है। अब तुझे ज्ञानमार्ग

अच्छा लगे या निष्काम कर्ममार्ग, दोनों में कर्म तो करना ही पड़ेगा।

प्रायः इस स्थल पर लोग भगवत्पथ में संक्षिप्त मार्ग और बचाव ढूंढ़ने लगते हैं। ''कर्म आरम्भ ही न करें, हो गये निष्कर्मी'' - कहीं ऐसी भ्रान्ति न रह जाय, इसलिये श्रीकृष्ण बल देते हैं कि कर्मों को न आरम्भ करने से कोई निष्कर्म-भाव को नहीं प्राप्त होता। शुभाशुभ कर्मों का जहाँ अन्त है, परम निष्कर्मता की उस स्थिति को कर्म करके ही पाया जा सकता है। इसी प्रकार बहुत से लोग कहते हैं, ''हम तो ज्ञानमार्गी हैं, ज्ञानमार्ग में कर्म है ही नहीं।''- ऐसा मानकर कर्मों को त्यागनेवाले ज्ञानी नहीं होते। आरंभ की हुई क्रिया को त्यागने मात्र से कोई भगवत्साक्षात्काररूपी परमसिद्धि को प्राप्त नहीं होता है; क्योंकि-

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।५।।

कोई भी पुरुष किसी काल में क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रहता; क्योंकि सभी पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा विवश होकर कर्म करते हैं। प्रकृति और प्रकृति से उत्पन्न गुण जब तक जीवित हैं, तब तक कोई भी पुरुष कर्म किये बिना रह ही नहीं सकता।

अध्याय चार के तैंतीसवें और सैंतीसवें श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं कि यावन्मात्र कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं, ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है। यहाँ वे कहते हैं कि कर्म किये बिना कोई रहता ही नहीं। अन्ततः वे महापुरुष कहते क्या हैं? उनका आशय है कि यज्ञ करते-करते तीनों गुणों से अतीत हो जाने पर मन के विलय और साक्षात्कार के साथ यज्ञ का परिणाम निकल जाने पर कर्म शेष हो जाते हैं। उस निर्धारित क्रिया की पूर्णता से पहले कर्म मिटते नहीं, प्रकृति पिण्ड नहीं छोड़ती।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।६।।

इतने पर भी विशेष रूप से मूढ़ लोग, जो कर्मेन्द्रियों को हठ से रोककर इन्द्रियों के भोगों का मन से स्मरण करते रहते हैं वे मिथ्याचारी हैं, पाखण्डी हैं, न कि ज्ञानी। सिद्ध है कि कृष्णकाल में भी ऐसी रूढ़ियाँ थीं। लोग करने योग्य क्रिया को छोड़कर इन्द्रियों को हठ से रोककर बैठ जाते थे और कहने

लगते थे कि मैं ज्ञानी हूँ, पूर्ण हूँ। किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे धूर्त हैं। ज्ञानमार्ग अच्छा लगे या निष्काम कर्मयोग, दोनों ही मार्गों में कर्म तो करना ही पड़ेगा।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।७।।

अर्जुन! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके, जब मन में भी वासनाओं का स्फुरण न हो, सर्वथा अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है। ठीक है, समझ में आया कि कर्म का आचरण करें; किन्तु यह प्रश्न खड़ा होता है कि कौन-सा कर्म करें? इस पर कहते हैं-

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।।८।।

अर्जुन! तू निर्धारित किये हुए कर्म को कर। अर्थात् कर्म तो बहुत से हैं, उनमें से कोई एक चुना हुआ है; उसी नियत कर्म को कर। कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है, इसलिए कि करते रहोगे, थोड़ी भी दूरी तय कर लोगे, तो जैसा पीछे बता आये हैं - महान् जन्म-मरण के भय से उद्धार करनेवाला है, इसलिये श्रेष्ठ है। कर्म न करने से तेरी शरीर-यात्रा भी सिद्ध नहीं होगी। शरीर-यात्रा का अर्थ लोग कहते हैं - 'शरीर-निर्वाह'। कैसा शरीर-निर्वाह? क्या आप शरीर हैं? यह पुरुष जन्म-जन्मान्तर से, युग-युगान्तरों से शरीरों की यात्रा ही तो करता चला आ रहा है। जैसे वस्त्र जीर्ण हुआ तो दूसरा-तीसरा धारण किया, इसी प्रकार कीट-पतंग से मानव तक, ब्रह्मा से लेकर यावन्मात्र जगत् परिवर्तनशील है। ऊपर-नीचे योनियों में बराबर यह जीव शरीरों की ही तो यात्रा कर रहा है। कर्म कोई ऐसी वस्तु है जो इस यात्रा को सिद्ध कर देती है, पूर्ण कर देती है। मान लें, एक ही जन्म लेना पड़ा तो यात्रा जारी है, अभी तो पथिक चल ही रहा है। वह दूसरे शरीरों की यात्रा कर रहा है। यात्रा पूर्ण तब होती है जब 'गन्तव्य' आ जाय। परमात्मा में स्थिति के अनन्तर इस आत्मा को शरीरों की यात्रा नहीं करनी पड़ती अर्थात् शरीर-त्याग और शरीर-धारण वाला क्रम समाप्त हो जाता है। अतः कर्म कोई ऐसी वस्तु है कि इस पुरुष को पुनः शरीरों की यात्रा नहीं

करनी पड़ती। **'मोक्ष्यसेऽशुभात्' (गीता, ४/१६)**-अर्जुन! इस कर्म को करके तू संसार-बन्धन 'अशुभ' से छूट जायेगा। कर्म कोई ऐसी वस्तु है, जो संसार-बन्धन से मुक्ति दिलाता है। अब प्रश्न खड़ा होता है कि वह निर्धारित कर्म है क्या? इस पर कहते हैं-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।।९।।

अर्जुन! यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। वह हरकत कर्म है, जिससे यज्ञ पूर्ण हो। सिद्ध है कि कर्म एक निर्धारित प्रक्रिया है। इसके अतिरिक्त जो कर्म होते हैं, क्या वे कर्म नहीं हैं? श्रीकृष्ण कहते हैं - नहीं, वे कर्म नहीं हैं। **'अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'** - इस यज्ञ की प्रक्रिया के अतिरिक्त दुनिया में जो कुछ भी किया जाता है, सारा जगत् जिसमें रात-दिन व्यस्त है, वह इसी लोक का एक बन्धन है, न कि कर्म। कर्म तो **'मोक्ष्यसेऽशुभात्'** - अशुभ अर्थात् संसार-बन्धन से छुटकारा दिलाने वाला है। मात्र यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। वह हरकत कर्म है, जिससे यज्ञ पूरा होता है। अतः अर्जुन! उस यज्ञ की पूर्ति के लिए संग-दोष से अलग रहकर भली प्रकार कर्म का आचरण कर। संग-दोष से अलग हुए बिना यह कर्म होता ही नहीं।

अब हम समझ गये कि यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है; किन्तु यहाँ पुनः एक नवीन प्रश्न उत्पन्न हो गया कि वह यज्ञ क्या है, जिसे किया जाय? इसके लिए पहले यज्ञ को न बताकर श्रीकृष्ण बताते हैं कि यज्ञ आया कहाँ से? वह देता क्या है? उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला और चौथे अध्याय में जाकर स्पष्ट किया कि यज्ञ क्या है, जिसे हम कार्यरूप दें और हमसे कर्म होने लगे। योगेश्वर श्रीकृष्ण की शैली से स्पष्ट है कि जिस वस्तु का चित्रण करना है, वे पहले उसकी विशेषताओं का चित्रण करते हैं जिससे श्रद्धा जागृत हो। तत्पश्चात् वे उसमें बरती जानेवाली सावधानियों पर प्रकाश डालते हैं और अन्त में मुख्य सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं।

स्मरण रहे कि यहाँ पर श्रीकृष्ण ने कर्म के दूसरे अंग पर प्रकाश डाला कि कर्म एक निर्धारित क्रिया है। जो कुछ किया जाता है, वह कर्म नहीं है।

अध्याय दो में पहली बार कर्म का नाम लिया, उसकी विशेषताओं पर बल दिया, उसमें बरती जानेवाली सावधानियों पर प्रकाश डाला, लेकिन

यह नहीं बताया कि कर्म क्या है? यहाँ अध्याय तीन में बताया कि कोई बगैर कर्म किये नहीं रहता। प्रकृति से पराधीन होकर मनुष्य कर्म करता है। इसके बावजूद भी जो लोग इन्द्रियों को हठ से रोककर मन से विषयों का चिन्तन करते हैं, वे दम्भी हैं, दम्भ का आचरण करनेवाले हैं। इसलिए अर्जुन! मन से इन्द्रियों को समेटकर तू कर्म कर। किन्तु प्रश्न ज्यों-का-त्यों है कि कौन-सा कर्म करें? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा - अर्जुन! तू निर्धारित किये हुए कर्म को कर।

अब प्रश्न उठता है कि निर्धारित कर्म क्या है, जिसे हम करें? तब बताया कि यज्ञ को कार्यरूप देना कर्म है। अब प्रश्न उठता है कि वह यज्ञ क्या है? यहाँ यज्ञ की उत्पत्ति, विशेषता बताकर शान्त हो जायेंगे और आगे अध्याय चार में यज्ञ का निखरा हुआ रूप मिलेगा, जिसे करना कर्म है।

कर्म की यह परिभाषा गीता को समझने की कुंजी है। यज्ञ के अतिरिक्त दुनिया में लोग कुछ-न-कुछ करते ही रहते हैं। कोई खेती करता है, तो कोई व्यापार। कोई पदासीन है, तो कोई सेवक। कोई अपने को बुद्धिजीवी कहता है, तो कोई श्रमजीवी। कोई समाज-सेवा को कर्म मानता है, तो कोई देश-सेवा को और इन्हीं कर्मों में लोग सकाम और निष्काम कर्म की भूमिका भी बनाये पड़े हैं। किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं, ये कर्म नहीं हैं। **'अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'**- यज्ञ की प्रक्रिया के सिवाय जो कुछ भी किया जाता है, वह इसी लोक का बन्धनकारी कर्म है, न कि मोक्षद कर्म। वस्तुतः यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। अब यज्ञ न बताकर पहले यह बताते हैं कि यज्ञ आया कहाँ से-

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।१०।।

प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञसहित प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ द्वारा वृद्धि को प्राप्त होओ। यह यज्ञ तुमलोगों की **'इष्टकामधुक्'**- जिसमें अनिष्ट न हो, विनाशरहित इष्ट-सम्बन्धी कामना की पूर्ति करेगा।

यज्ञसहित प्रजा को किसने रचा? प्रजापति ब्रह्मा ने। ब्रह्मा कौन? क्या चार मुख और आठ आँखोंवाला देवता, जैसा कि प्रचलित है? नहीं, श्रीकृष्ण के अनुसार देवता नाम की कोई अलग सत्ता है ही नहीं। फिर प्रजापति कौन

है? वस्तुतः जिसने प्रजा के मूल उद्गम परमात्मा में प्रवेश पा लिया है, वह महापुरुष प्रजापति है। बुद्धि ही ब्रह्मा है – **'अहंकार शिव बुद्धि अज, मन शशि चित्त महान।' (रामचरितमानस, ६/१५क)** उस समय बुद्धि यन्त्र मात्र होती है। उस पुरुष की वाणी में परमात्मा ही बोलता है।

भजन की वास्तविक क्रिया प्रारम्भ हो जाने पर बुद्धि का उत्तरोत्तर उत्थान होता है। प्रारम्भ में वह बुद्धि ब्रह्मविद्या से संयुक्त होने के कारण 'ब्रह्मवित' कही जाती है। क्रमशः विकारों का शमन होने पर ब्रह्मविद्या में श्रेष्ठ होने पर वह 'ब्रह्मविद्वर' कही जाती है। उत्थान और सूक्ष्म हो जाने पर बुद्धि की अवस्था विकसित हो जाती है। वह 'ब्रह्मविद्वरीयान्' कहलाती है। उस अवस्था में ब्रह्मविद्वेत्ता पुरुष दूसरों को भी उत्थान मार्ग पर लाने का अधिकार प्राप्त कर लेता है। बुद्धि की पराकाष्ठा है– 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' अर्थात् ब्रह्मवित की वह अवस्था, जिसमें इष्ट प्रवाहित है। ऐसी स्थिति वाले महापुरुष प्रजा के मूल उद्गम परमात्मा में प्रविष्ट और स्थित रहते हैं। ऐसे महापुरुषों की बुद्धि मात्र यंत्र है। वे ही प्रजापति कहलाते हैं। वे प्रकृति के द्वन्द्व का विश्लेषण कर 'आराधना क्रिया' की रचना करते हैं। यज्ञ के अनुरूप संस्कारों का देना ही प्रजा की रचना है। इससे पूर्व समाज अचेत, अव्यवस्थित रहता है। सृष्टि अनादि है। संस्कार पहले से ही हैं; किन्तु अस्त-व्यस्त विकृत हैं। यज्ञ के अनुरूप उन्हें ढालना ही रचना या सजाना है।

ऐसे महापुरुष ने कल्प के आदि में यज्ञसहित प्रजा की रचना की। कल्प निरोग बनाता है। वैद्य कल्प देते हैं, कोई कायाकल्प करता है। यह क्षणिक शरीरों का कल्प है। वास्तविक कल्प तो तब है, जब भवरोग से मुक्ति मिल जाय। आराधना का प्रारंभ इस कल्प की शुरुआत है। आराधना पूर्ण हुई, तो आपका कल्प पूरा हो गया।

इस प्रकार परमात्म स्वरूपस्थ महापुरुषों ने भजन के प्रारम्भ में यज्ञसहित संस्कारों को सुसंगठित कर कहा कि इस यज्ञ से तुम वृद्धि को प्राप्त होओ। कैसी वृद्धि? क्या मकान कच्चे से पक्का बन जायेगा? आय अधिक होने लगेगी? नहीं, यज्ञ **'इष्टकामधुक्'**– इष्ट-सम्बन्धी कामना की पूर्ति करेगा। इष्ट है परमात्मा। उस परमात्मा-सम्बन्धी कामना की पूर्तिवाला है। प्रश्न स्वाभाविक है कि यज्ञ सीधे उस परमात्मा की प्राप्ति करा देगा अथवा

क्रम-क्रम से चलकर?-

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।११।।

इस यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करो अर्थात् दैवी सम्पद् की वृद्धि करो। वे देवता लोग तुम लोगों की उन्नति करेंगे। इस प्रकार आपस में वृद्धि करते हुए परमश्रेय, जिसके बाद कुछ भी पाना शेष न रहे, ऐसे परमकल्याण को प्राप्त हो जाओ। ज्यो-ज्यों हम यज्ञ में प्रवेश करेंगे, (आगे यज्ञ का अर्थ होगा, आराधना की विधि) त्यों-त्यों हृदयदेश में दैवी सम्पद् अर्जित होती चली जायेगी। परमदेव एकमात्र परमात्मा है, उस परमदेव में प्रवेश दिला देनेवाली जो सम्पद् है, अन्तःकरण की जो सजातीय प्रवृत्ति है उसी को 'दैवी सम्पद्' कहते हैं। वह परमदेव को सम्भव करती है इसलिये दैवी सम्पद् कही जाती है, न कि बाहरी देवता-पत्थर-पानी, जैसा लोग कल्पना कर लेते हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण के शब्दों में उनका कोई अस्तित्व नहीं है। आगे कहते हैं-

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।१२।।

यज्ञ द्वारा संवर्धित देवता (दैवी सम्पद्) आपको **'इष्टान् भोगान् हि दास्यन्ते'** - इष्ट अर्थात् आराध्य-सम्बन्धी भोगों को देंगे, अन्य कुछ नहीं। **'तैः दत्तान'** - वे ही एकमात्र देनेवाले हैं। इष्ट को पाने का अन्य कोई विकल्प नहीं है। इन दैवी गुणों को बिना बढ़ाये जो इस स्थिति का भोग करता है वह निश्चय ही चोर है। जब उसने पाया ही नहीं, तो भोगेगा क्या? किन्तु कहता अवश्य है कि हम तो पूर्ण हैं, तत्त्वदर्शी हैं। ऐसी डींग मारनेवाला इस पथ से मुँह छिपानेवाला है। वह निश्चय ही चोर है, न कि प्राप्तिवाला। किन्तु पानेवाले क्या पाते हैं?-

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।१३।।

यज्ञ से बचे हुए अन्न को खानेवाले संतजन सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। दैवी सम्पद् की वृद्धि करते-करते परिणाम में प्राप्तिकाल ही पूर्तिकाल है। जब यज्ञ पूर्ण हो गया, तो शेष बचा हुआ ब्रह्म ही अन्न है। इसी को

श्रीकृष्ण ने दूसरे शब्दों में कहा-**'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।'**- यज्ञ जिसकी सृष्टि करता है उस अशन को पान करने वाला ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है। यहाँ वे कहते हैं कि यज्ञ से शेष बचे हुए अशन को (ब्रह्म-पीयूष को) पान करनेवाला सब पापों से छुटकारा पा जाता है। सन्तजन तो छूट जाते हैं; किन्तु पापी लोग मोह के माध्यम से उत्पन्न शरीरों के लिये पचते हैं। वे पाप खाते हैं। उन्होंने भजन भी किया, आराधना को समझा, अग्रसर भी हुए; किन्तु बदले में एक मीठी-सी चाह पैदा हो गयी कि **'आत्मकारणात्'**- शरीर के लिये और शरीर के सम्बन्धों को लेकर कुछ मिले। उसे मिल तो जायेगा; किन्तु उतने भोग के पश्चात् वह अपने को वहीं खड़ा पायेगा, जहाँ से चलना प्रारम्भ किया था। इससे बड़ी क्षति क्या होगी? जब शरीर ही नश्वर है, तो इसके सुख-भोग कब तक साथ देंगे? वे आराधना तो करते हैं, किन्तु बदले में पाप ही खाते हैं। - **'पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं।'** वह नष्ट तो नहीं होगा; किन्तु आगे नहीं बढ़ेगा। इसलिये श्रीकृष्ण निष्काम भाव से कर्म (भजन) करने पर बल देते हैं। अभी तक श्रीकृष्ण ने बताया कि यज्ञ परमश्रेय देता है और उसकी रचना महापुरुषों द्वारा होती है; किन्तु वे महापुरुष प्रजा की रचना में क्यों प्रवृत्त होते हैं? इस पर कहते हैं-

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।१४।।
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।१५।।

सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं। **''अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्''** (तै. उप. २/१) अन्न परमात्मा ही है। उस ब्रह्मपीयूष को ही उद्देश्य बनाकर प्राणी यज्ञ की ओर अग्रसर होता है। अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है। बादलों से होनेवाली वर्षा नहीं अपितु कृपावृष्टि। पूर्व संचित यज्ञ-कर्म ही इस जन्म में, जहाँ से साधन छूटा था, वहीं से इष्टकृपा के रूप में बरस पड़ता है। आज की आराधना कल कृपा के रूप में मिलेगी। इसीलिये वृष्टि यज्ञ से होती है। स्वाहा बोलने और तिल-जौ जलाने से ही वृष्टि होती तो विश्व की अधिकांश मरुभूमि ऊसर क्यों रहती? उर्वरा बन जाती। यहाँ कृपावृष्टि यज्ञ की देन है। यह यज्ञ कर्मों से ही उत्पन्न होनेवाला है, कर्म से यज्ञ पूर्ण होता है।

उस कर्म को वेद से उत्पन्न हुआ जान। वेद ब्रह्मस्थित महापुरुषों की वाणी है। जो तत्त्व विदित नहीं है उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति का नाम वेद है, न कि कुछ श्लोक-संग्रह। वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ जान। कहा तो महात्माओं ने; किन्तु वे परमात्मा के साथ तद्रूप हो चुके हैं, उनके माध्यम से अविनाशी परमात्मा ही बोलता है इसलिये वेद अपौरुषेय कहे जाते हैं। महापुरुष वेद कहाँ से पा गये? तो वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ। वे महापुरुष उसके तद्रूप हैं, वे मात्र यन्त्र हैं इसलिये उनके द्वारा वही बोलता है। क्योंकि यज्ञ के द्वारा ही मन के निरोधकाल में वह विदित होता है। इससे सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सर्वदा यज्ञ में ही प्रतिष्ठित है। यज्ञ ही उसे पाने का एकमात्र उपाय है। इसी पर बल देते हैं-

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।१६।।

हे पार्थ! जो पुरुष इसी लोक में मनुष्य-शरीर प्राप्त कर इस प्रकार चलाये हुए साधन-चक्र के अनुसार नहीं बरतता अर्थात् दैवी सम्पद् का उत्कर्ष, देवताओं की वृद्धि और परस्पर वृद्धि के द्वारा अक्षयधाम को प्राप्त करना- इस क्रम के अनुसार जो नहीं बरतता, इन्द्रियों का आराम चाहनेवाला वह 'पापायु पुरुष' व्यर्थ ही जीता है।

बन्धुओ! योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अध्याय दो में कर्म का नाम लिया और इस अध्याय में बताया कि नियत कर्म का आचरण कर। यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। इसके सिवाय जो कुछ किया जाता है, वह इसी लोक का बन्धन है। इसीलिए संग-दोष से अलग रहकर उस यज्ञ की पूर्ति के लिए कर्म का आचरण कर। उन्होंने यज्ञ की विशेषताओं पर प्रकाश डाला और बताया कि यज्ञ की उत्पत्ति ब्रह्मा से है। प्रजा अन्न को उद्देश्य बनाकर उस यज्ञ में प्रवृत्त होती है। यज्ञ कर्म से और कर्म अपौरुषेय वेद से उत्पन्न होते हैं, जबकि वेद-मन्त्रों के द्रष्टा महापुरुष ही थे। उनका पुरुष तिरोहित हो चुका था। प्राप्ति के साथ अविनाशी परमात्मा ही शेष बचा था इसलिए वेद परमात्मा से उत्पन्न हैं। सर्वव्यापी परमात्मा यज्ञ में सर्वदा प्रतिष्ठित है। इस साधन-चक्र के अनुसार जो नहीं बरतता, वह पापायु पुरुष इन्द्रियों का सुख चाहनेवाला है, व्यर्थ ही जीता है। अर्थात् यज्ञ ऐसी विधि-विशेष है, जिसमें इन्द्रियों का

आराम नहीं है अपितु अक्षय सुख है। इन्द्रियों के संयम के साथ इसमें लगने का विधान है। इन्द्रियों का आराम चाहनेवाले पापायु हैं। अभी तक श्रीकृष्ण ने नहीं बताया है कि यज्ञ है क्या? परन्तु क्या यज्ञ करते ही रहेंगे या इसका कभी अन्त भी होगा? इस पर योगेश्वर कहते हैं-

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।१७।।

परन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही रत, आत्मतृप्त और आत्मा में ही सन्तुष्ट है, उसके लिए कोई कर्त्तव्य नहीं रह जाता। यही तो लक्ष्य था। जब अव्यक्त, सनातन, अविनाशी आत्मतत्त्व प्राप्त हो गया तो आगे ढूँढ़े किसे? ऐसे पुरुष के लिए न कर्म की आवश्यकता है, न किसी आराधना की। आत्मा और परमात्मा एक दूसरे के पर्याय हैं। इसी का पुनः चित्रण करते हैं-

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।।१८।।

इस संसार में उस पुरुष का कर्म किये जाने से कोई लाभ नहीं है और न छोड़ देने से कोई हानि है, जबकि पहले आवश्यक था। उसका सम्पूर्ण प्राणियों में कोई स्वार्थ-सम्बन्ध नहीं रह जाता। आत्मा ही तो शाश्वत, सनातन, अव्यक्त, अपरिवर्तनशील और अक्षय है। जब उसी को पा लिया, उसी से सन्तुष्ट, उसी से तृप्त, उसी में ओत-प्रोत और स्थित है, आगे कोई सत्ता ही नहीं, तो किसको खोजे? मिलेगा क्या? उस पुरुष के लिए कर्म छोड़ देने से कोई हानि भी नहीं है; क्योंकि विकार जिस पर अंकित होते हैं, वह चित्त ही न रहा। उसका सम्पूर्ण भूतों में, बाह्य जगत् और आन्तरिक संकल्पों की परत में लेशमात्र भी अर्थ नहीं रहता। सबसे बड़ा अर्थ तो था परमात्मा। जब वही उपलब्ध है, तो दूसरों से उसका क्या प्रयोजन होगा?

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।१९।।

इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए तू अनासक्त हुआ निरन्तर '**कार्यं कर्म**'- जो करने योग्य कर्म है, उस कर्म को अच्छी प्रकार कर। क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म के आचरण से परमात्मा को प्राप्त होता है। 'नियत कर्म', 'कार्यं कर्म' एक ही हैं। कर्म की प्रेरणा देते हुए वे पुनः कहते हैं-

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि।।२०।।

जनक माने राजा जनक नहीं। जनक जन्मदाता को कहते हैं। योग ही जनक है जो आपके स्वरूप को जन्म देता है, प्रकट करता है। योग से संयुक्त प्रत्येक महापुरुष जनक हैं। ऐसे योगसंयुक्त बहुत से ऋषियों **'जनकादयः'**- जनक इत्यादि ज्ञानीजन महापुरुष भी **'कर्मणा एव हि संसिद्धिम्'**- कर्मों के द्वारा ही परमसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। परमसिद्धि माने परमतत्त्व परमात्मा की प्राप्ति। जनक इत्यादि जितने भी पूर्व में होनेवाले महर्षि हुए हैं, इस 'कार्यं कर्म' के द्वारा, जो यज्ञ की प्रक्रिया है, इस कर्म को करके ही **'संसिद्धिम्'**- परमसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। किन्तु प्राप्ति के पश्चात् वे भी लोकसंग्रह को देखकर कर्म करते हैं, लोकहित को चाहते हुए कर्म करते हैं। अतः तू भी प्राप्ति के लिए और प्राप्ति के पश्चात् लोकनायक बनने के लिए कार्यं कर्म करने के ही योग्य है। क्यों?

अभी श्रीकृष्ण ने कहा था कि प्राप्ति के पश्चात् महापुरुष का कर्म करने से न कोई लाभ है और न छोड़ने से कोई हानि ही है, फिर भी लोकसंग्रह, लोकहित व्यवस्था के लिए वे भली प्रकार नियत कर्म का ही आचरण करते हैं-

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।२१।।

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उसके अनुसार ही करते हैं। वह महापुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, संसार उसका अनुसरण करता है।

पहले श्रीकृष्ण ने स्वरूप में स्थित, आत्मतृप्त महापुरुष की रहनी पर प्रकाश डाला कि उसके लिए कर्म किये जाने से न कोई लाभ और न छोड़ने से कोई हानि, फिर भी जनकादि कर्म में भली प्रकार बरतते थे। यहाँ उन महापुरुषों से श्रीकृष्ण धीरे से अपनी तुलना कर देते हैं कि मैं भी एक महापुरुष हूँ।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।२२।।

हे पार्थ! मुझे तीनों लोकों में कोई कर्तव्य नहीं है। पीछे कह आये हैं- उस महापुरुष का समस्त भूतों में कोई कर्तव्य नहीं है। यहाँ कहते हैं - तीनों लोकों में मुझे कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं है तथा किंचिन्मात्र प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्य नहीं है, तब भी मैं कर्म में भली प्रकार बरतता हूँ। क्यों?-

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।२३।।

क्योंकि यदि मैं सावधान होकर कदाचित् कर्म में न बरतूँ तो मनुष्य मेरे बर्ताव के अनुसार बरतने लग जायेंगे। तो क्या आपका अनुकरण भी बुरा है? श्रीकृष्ण कहते हैं - हाँ!

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।२४।।

यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ तो यह सब लोक भ्रष्ट हो जायँ और मैं **'संकरस्य'**- वर्णसंकर का करनेवाला होऊँ तथा इन सारी प्रजा का हनन करनेवाला, मारनेवाला बनूँ।

स्वरूप में स्थित महापुरुष सतर्क रहकर यदि आराधना-क्रम में न लगे रहें, तो समाज उनकी नकल करके भ्रष्ट हो जायेगा। महापुरुष ने तो आराधना पूर्ण करके परम नैष्कर्म्य की स्थिति को पाया है। वे न करें तो उनके लिए कोई हानि नहीं है; किन्तु समाज ने तो अभी आराधना आरम्भ ही नहीं की। पीछेवालों के मार्ग-दर्शन के लिए ही महापुरुष कर्म करते हैं, मैं भी करता हूँ अर्थात् श्रीकृष्ण एक महापुरुष थे, न कि बैकुण्ठ से आये हुए कोई विशेष भगवान। उन्होंने कहा कि महापुरुष लोकसंग्रह के लिए कर्म करता है, मैं भी करता हूँ। यदि न करूँ तो लोगों का पतन हो जाय, सभी कर्म छोड़ बैठेंगे।

मन बड़ा चंचल है। यह सब कुछ चाहता है, केवल भजन नहीं चाहता। यदि स्वरूपस्थ महापुरुष कर्म न करें, तो देखा-देखी पीछे वाले भी तुरन्त कर्म छोड़ देंगे। उन्हें बहाना मिल जायेगा कि ये भजन नहीं करते, पान खाते

हैं, इत्र लगाते हैं, सामान्य बातें करते हैं फिर भी महापुरुष कहलाते हैं – ऐसा सोचकर वे भी आराधना से हट जाते हैं, पतित हो जाते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि मैं कर्म न करूँ, तो सब भ्रष्ट हो जायँ और मैं वर्णसंकर का कर्त्ता बनूँ।

स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकर तो देखा-सुना जाता है। अर्जुन भी इसी भय से विकल था कि स्त्रियाँ दूषित होंगी तो वर्णसंकर पैदा होंगे; किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं – यदि मैं सावधान होकर आराधना में लगा न रहूँ, तो वर्णसंकर का कर्त्ता होऊँ। वस्तुतः आत्मा का शुद्ध वर्ण है परमात्मा। अपने शाश्वत स्वरूप के पथ से भटक जाना वर्णसंकरता है। यदि स्वरूपस्थ महापुरुष क्रिया में नहीं बरतते तो लोग उनके अनुकरण से क्रियारहित हो जायेंगे, आत्मपथ से भटक जायेंगे, वर्णसंकर हो जायेंगे। वे प्रकृति में खो जायेंगे।

स्त्रियों का सतीत्व एवं नस्ल की शुद्धता एक सामाजिक व्यवस्था है, अधिकारों का प्रश्न है, समाज के लिए उसकी उपयोगिता भी है; किन्तु माता-पिता की भूलों का सन्तान की साधना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। **'आपन करनी पार उतरनी।'** हनुमान, व्यास, वशिष्ठ, नारद, शुकदेव, कबीर, ईसा इत्यादि अच्छे महापुरुष हुए, जबकि सामाजिक कुलीनता से इनका सम्पर्क नहीं है। आत्मा अपने पूर्वजन्म के गुणधर्म लेकर आता है। श्रीकृष्ण कहते हैं– **'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।'** (१५/७) मनसहित इन्द्रियों से जो कार्य इस जन्म में होता है, उनके संस्कार लेकर जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर नवीन शरीर में प्रवेश कर जाता है। इसमें जन्मदाताओं का क्या लगा? उनके विकास में कोई अन्तर नहीं आया। अतः स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकर नहीं होता। स्त्रियों के दूषित होने और वर्णसंकर से कोई सम्बन्ध नहीं है। शुद्ध स्वरूप की ओर अग्रसर न होकर प्रकृति में बिखर जाना ही वर्णसंकर है।

यदि महापुरुष सावधान होकर क्रिया (नियत कर्म) में बरतते हुए लोगों से क्रिया न कराये तो वह उस सारी प्रजा का हनन करनेवाला, मारनेवाला बने। साधना-क्रम में चलकर उस मूल अविनाशी की प्राप्ति ही

जीवन है और प्रकृति में बिखरे रहना, भटक जाना मृत्यु है; किन्तु वह महापुरुष इस सारी प्रजा को यदि क्रिया-पथ पर नहीं चलाता, उस सारी प्रजा को बिखराव से रोककर सत्पथ पर नहीं चलाता तो वह सारी प्रजा का हनन करनेवाला हत्यारा है, हिंसक है और क्रमशः चलते हुए जो चला लेता है वह शुद्ध अहिंसक है। गीता के अनुसार शरीर का निधन, नश्वर कलेवरों का निधन मात्र परिवर्तन है, हिंसा नहीं।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम्।।२५।।

हे भारत! कर्म में आसक्त हुए अज्ञानीजन जैसे कर्म करते हैं, वैसे ही अनासक्त हुआ विद्वान्, पूर्ण ज्ञाता भी लोक-हृदय में प्रेरणा और कल्याण-संग्रह चाहता हुआ कर्म करे। यज्ञ की विधि जानते और करते हुए भी हम अज्ञानी हैं। ज्ञान का अर्थ है प्रत्यक्ष जानकारी। जब तक लेशमात्र भी हम अलग हैं, आराध्य अलग है तब तक अज्ञान विद्यमान है। जब तक अज्ञान है, तब तक कर्म में आसक्ति रहती है। अज्ञानी जितनी आसक्ति से आराधना करता है, उसी प्रकार अनासक्त। जिसे कर्मों से प्रयोजन नहीं है तो आसक्ति क्यों होगी, ऐसा पूर्ण ज्ञाता महापुरुष भी लोकहित के लिए कर्म करे, दैवी सम्पद् का उत्कर्ष करे, जिससे समाज उस पर चल सके।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।।२६।।

ज्ञानी पुरुषों को चाहिए कि कर्मों में आसक्तिवाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम न पैदा करें अर्थात् स्वरूपस्थ महापुरुष ध्यान दें कि उनके किसी आचरण से पीछेवालों के मन में कर्म के प्रति अश्रद्धा न उत्पन्न हो जाय। परमात्म तत्त्व से संयुक्त महापुरुष को भी चाहिए कि स्वयं भली प्रकार नियत कर्म करता हुआ उनसे करावे।

यही कारण था कि 'पूज्य महाराज जी' वृद्धावस्था में भी रात के दो बजे ही उठकर बैठ जायँ, खाँसने लगें। तीन बजे बोलने लगें - ''उठो, मिट्टी के पुतलों!'' सब उठकर चिन्तन में लग जायँ, तो स्वयं थोड़ा लेट जायँ। कुछ देर बाद फिर उठकर बैठ जायँ। कहें - ''तुम लोग सोचते हो कि महाराज सो रहे हैं; किन्तु मैं सोता नहीं, श्वास में लगा हूँ। वृद्धावस्था का शरीर

है, बैठने में कष्ट होता है इसी से मैं पड़ा रहता हूँ, लेकिन तुम्हें तो स्थिर और सीधे बैठकर चिन्तन में लगना है। जब तक तैलधारा के सदृश श्वास की डोरी न लग जाय, क्रम न टूटे, अन्य संकल्प बीच में व्यवधान उत्पन्न न कर सकें तब तक सतत लगे रहना साधक का धर्म है। मेरी श्वास तो बाँस की तरह स्थिर खड़ी है।'' यही कारण है कि अनुयायियों से कराने के लिए वह महापुरुष भली प्रकार कर्म में बरतता है। **'जिस गुन को सिखावै, उसे करके दिखावै।'**

इस प्रकार स्वरूपस्थ महापुरुष को भी चाहिए कि स्वयं कर्म करता हुआ साधकों को भी आराधना में लगाये रहे। साधक भी श्रद्धापूर्वक आराधना में लगें; किन्तु चाहे ज्ञानयोगी हो अथवा समर्पण भाववाला निष्काम कर्मयोगी हो, साधक में साधना का अहंकार नहीं आना चाहिए। कर्म किसके द्वारा होते हैं, उसके होने में कौन कारण हैं? - इस पर श्रीकृष्ण प्रकाश डालते हैं-

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।२७।।

आरम्भ से पूर्तिपर्यन्त कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं फिर भी अहंकार से विशेष मूढ़ पुरुष 'मैं कर्त्ता हूँ' - ऐसा मान लेता है। यह कैसे माना जाय कि आराधना प्रकृति के गुणों द्वारा होती है? ऐसा किसने देखा? इस पर कहते हैं-

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।२८।।

हे महाबाहो! गुण और कर्म के विभाग को **'तत्त्ववित्'-** परमतत्त्व परमात्मा की जानकारीवाले महापुरुषों ने देखा और सम्पूर्ण गुण, गुणों में बरत रहे हैं, ऐसा मानकर वे गुण और कर्मों के कर्त्तापन में आसक्त नहीं होते।

यहाँ तत्त्व का अर्थ परमतत्त्व परमात्मा है न कि पाँच या पचीस तत्त्व, जैसा कि लोग गणना करते हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण के शब्दों में तत्त्व एकमात्र परमात्मा है, अन्य कोई तत्त्व है ही नहीं। गुणों को पार करके परमतत्त्व परमात्मा में स्थित महापुरुष गुण के अनुसार कर्मों का विभाजन देख पाते हैं। तामसी गुण रहेगा तो उसका कार्य होगा- आलस्य, निद्रा, प्रमाद, कर्म में प्रवृत्त न होने का स्वभाव। राजसी गुण रहेंगे तो आराधना से पीछे न हटने का

स्वभाव, शौर्य, स्वामीभाव से कर्म होगा और सात्त्विक गुण कार्यरत होने पर ध्यान, समाधि, अनुभवी उपलब्धि, धारावाहिक चिन्तन, सरलता स्वभाव में होगी। गुण परिवर्तनशील हैं। प्रत्यक्षदर्शी ज्ञानी ही देख पाता है कि गुणों के अनुरूप कर्मों का उत्कर्ष-अपकर्ष होता है। गुण अपना कार्य करा लेते हैं, अर्थात् गुण गुणों में बरतते हैं - ऐसा समझकर वह प्रत्यक्ष द्रष्टा कर्म में आसक्त नहीं होता। किन्तु जिन्होंने गुणों का पार नहीं पाया, जो अभी रास्ते में हैं उन्हें तो कर्म में आसक्त रहना है। इसलिए-

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।।२९।।

प्रकृति के गुणों से मोहित हुए पुरुष गुण और कर्मों में क्रमशः निर्मल गुणों की ओर उन्नति देखकर उनमें आसक्त होते हैं। उन अच्छी प्रकार न समझनेवाले **'मन्दान्'**- शिथिल प्रयत्नवालों को अच्छी प्रकार जाननेवाला ज्ञानी चलायमान न करें। उन्हें हतोत्साहित न करें बल्कि प्रोत्साहन दें; क्योंकि कर्म करके ही उन्हें परम नैष्कर्म्य की स्थिति पाना है। अपनी शक्ति और स्थिति का आकलन करके कर्म में प्रवृत्त होनेवाले ज्ञानमार्गी साधकों को चाहिए कि कर्म को गुणों की देन मानें, अपने को कर्त्ता मानकर अहंकारी न बन जायँ, निर्मल गुणों के प्राप्त होनेपर भी उनमें आसक्त न हों। किन्तु निष्काम कर्मयोगी को कर्म और गुणों के विश्लेषण में समय देने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसे तो बस समर्पण के साथ कर्म करते जाना है। कौन गुण आ-जा रहा है, यह देखना इष्ट की जिम्मेदारी हो जाती है। गुणों का परिवर्तन और क्रम-क्रम से उत्थान वह इष्ट की ही देन मानता है और कर्म होने को भी उन्हीं की देन मानता है। अतः कर्त्तापन का अहंकार या गुणों में आसक्ति होने की समस्या उसके लिए नहीं रहती, जबकि अनवरत लगा रहता है। इसी पर और साथ ही युद्ध का स्वरूप बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं-

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।।३०।।

इसलिए अर्जुन! तू **'अध्यात्मचेतसा'**- अन्तरात्मा में चित्त का निरोध करके, ध्यानस्थ होकर सम्पूर्ण कर्मों का मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और सन्तापरहित होकर युद्ध कर। जब चित्त ध्यान में स्थित है,

लेशमात्र भी कहीं आशा नहीं, कर्म में ममत्व नहीं है, असफलता का सन्ताप नहीं है तो वह पुरुष कौन-सा युद्ध करेगा? जब सब ओर से चित्त सिमटकर हृदयदेश में निरुद्ध होता जा रहा है तो वह लड़ेगा किसलिये, किससे और वहाँ है कौन? वास्तव में जब आप ध्यान में प्रवेश करेंगे, तभी युद्ध का सही स्वरूप खड़ा होता है, तो काम-क्रोध, राग-द्वेष, आशा-तृष्णा इत्यादि विकारों का समूह, विजातीय प्रवृत्तियाँ जो 'कुरु' कहलाती हैं, संसार में प्रवृत्ति देती ही रहती हैं। बाधा के रूप में भयंकर आक्रमण करती हैं। बस, इनका पार पाना ही युद्ध है। इनको मिटाते हुए अन्तरात्मा में सिमटते जाना, ध्यानस्थ होते जाना ही यथार्थ युद्ध है। इसी पर पुनः बल देते हैं-

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।।३१।।

अर्जुन! जो कोई मनुष्य दोषदृष्टि से रहित होकर, श्रद्धाभाव समर्पण से संयुक्त हुआ सदा मेरे इस मत के अनुसार बरतते हैं कि 'युद्ध कर' वे पुरुष भी सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाते हैं। योगेश्वर का यह आश्वासन किसी हिन्दू, मुसलमान या ईसाई के लिए नहीं अपितु मानव मात्र के लिए है। उनका मत है कि युद्ध कर! इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह उपदेश युद्धवालों के लिए था। अर्जुन के समक्ष सौभाग्य से विश्वयुद्ध की संरचना थी, आपके सामने तो कोई युद्ध नहीं है। आप गीता के पीछे क्यों पड़े हैं; क्योंकि कर्मों से छूटने का उपाय तो युद्ध करनेवालों के लिए है। किन्तु ऐसा कुछ नहीं है। वस्तुतः यह अन्तर्देश की लड़ाई है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का, विद्या और अविद्या का, धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र का संघर्ष है। आप ज्यों-ज्यों ध्यान में चित्त का निरोध करेंगे, विजातीय प्रवृत्ति बाधा के रूप में प्रत्यक्ष होती है, भयंकर आक्रमण करती है। उसका शमन करते हुए चित्त का निरोध करते जाना ही युद्ध है। जो दोषदृष्टि से रहित होकर श्रद्धा के साथ इस युद्ध में लगता है वह कर्मों के बन्धन से, आवागमन से भली प्रकार छुटकारा पा जाता है। जो इस युद्ध में प्रवृत्त नहीं होता, उसकी क्या गति होती है? इस पर कहते हैं-

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।।३२।।

जो दोषदृष्टिवाले **'अचेतसः'**- मोह-निशा में अचेत लोग मेरे इस मत के अनुसार नहीं बरतते अर्थात् ध्यानस्थ होकर आशा, ममता, सन्तापरहित होकर समर्पण के साथ युद्ध नहीं करते, **'सर्वज्ञानविमूढान्'** - ज्ञान-पथ में सर्वथा मोहित उन लोगों को तू कल्याण से भ्रष्ट हुआ ही जान। जब यही सही है तो लोग करते क्यों नहीं? इस पर कहते हैं-

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।।३३।।

सभी प्राणी अपनी प्रकृति को प्राप्त होते हैं, अपने स्वभाव से परवश होकर कर्म में भाग लेते हैं। प्रत्यक्षदर्शी ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है। प्राणी अपने कर्मों में बरतते हैं और ज्ञानी अपने स्वरूप में। जैसा जिसकी प्रकृति का दबाव है, वैसा ही कार्य करता है। यह स्वयंसिद्ध है। इसमें निराकरण कोई क्या करेगा? यही कारण है कि सभी लोग मेरे मत के अनुसार कर्म में प्रवृत्त नहीं हो पाते। वे आशा, ममता, संताप का, दूसरे शब्दों में राग-द्वेष का त्याग नहीं कर पाते, जिससे कर्म का सम्यक् आचरण नहीं हो पाता। इसी को और स्पष्ट करते हैं और दूसरा कारण बताते हैं-

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।३४।।

इन्द्रिय और इन्द्रियों के भोगों में राग और द्वेष स्थित हैं। इन दोनों के वश में नहीं होना चाहिए; क्योंकि इस कल्याण-मार्ग में कर्मों से छूट जानेवाली प्रणाली में ये राग और द्वेष दुर्धर्ष शत्रु हैं, आराधना का अपहरण कर ले जाते हैं। जब शत्रु भीतर हैं तो बाहर कोई किसी से क्यों लड़ेगा? शत्रु तो इन्द्रिय और भोगों के संसर्ग में हैं, अन्तःकरण में हैं। अतः यह युद्ध भी अन्तःकरण का युद्ध है; क्योंकि शरीर ही क्षेत्र है, जिसमें सजातीय-विजातीय दोनों प्रवृत्तियाँ, विद्या और अविद्या रहती हैं, जो माया के दो अंग हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों का पार पाना, सजातीय प्रवृत्ति को साधकर विजातीय का अन्त करना युद्ध है। विजातीय समाप्त होने पर सजातीय का उपयोग समाप्त हो जाता है। स्वरूप का स्पर्श करके सजातीय का भी उसके अन्तराल में विलय हो जाना, इस प्रकार प्रकृति का पार पाना युद्ध है, जो ध्यान में ही सम्भव है।

राग-द्वेष के शमन में समय लगता है, इसलिए बहुत से साधक क्रिया को छोड़कर सहसा महापुरुष की नकल करने लग जाते हैं। श्रीकृष्ण इससे सावधान करते हैं-

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।३५।।

एक साधक दस वर्ष से साधना में लगा हुआ है और दूसरा आज साधना में प्रवेश ले रहा है। दोनों की क्षमता एक-जैसी नहीं होगी। प्रारम्भिक साधक यदि उसकी नकल करता है तो नष्ट हो जायेगा। इसी पर श्रीकृष्ण कहते हैं कि अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म अधिक उत्तम है। स्वभाव से उत्पन्न कर्म में प्रवृत्त होने की क्षमता स्वधर्म है। अपनी क्षमता के अनुसार कर्म में प्रवृत्त होने से साधक एक-न-एक दिन पार पा जाता है। अतः स्वधर्माचरण में मरना भी परम कल्याणकारक है। जहाँ से साधन छूटेगा, शरीर मिलने पर वहीं से पुनः प्रारम्भ होगा। आत्मा तो मरता नहीं। (शरीर) वस्त्र बदलने से आपके बुद्धि, विचार बदल तो नहीं जाते? आगेवालों की तरह स्वांग बनाने से साधक भय को प्राप्त होगा। भय प्रकृति में होता है, परमात्मा में नहीं। प्रकृति का आवरण और घना हो उठेगा।

इस भगवत्पथ में नकल का बाहुल्य है। पूज्य महाराज जी को एक बार आकाशवाणी हुई थी कि अनुसुइया जाकर रहें, तो जम्मू से चित्रकूट आये और अनुसुइया के घोर जंगल में निवास करने लगे। बहुत से महात्मा उधर से आते-जाते थे। एक ने देखा कि परमहंस जी दिगम्बर, नंग-धड़ंग निवास करते हैं, उनका सम्मान है, तो तुरन्त उन्होंने कौपीन फेंका, दण्ड-कमण्डल एक अन्य महात्मा को दे दिया और दिगम्बर हो गये। कुछ काल बाद आये तो देखा, परमहंस जी लोगों से बातें भी करते हैं, गालियाँ भी देते हैं। महाराज जी को आदेश हुआ था कि भक्तों के कल्याणार्थ कुछ ताड़ना दिया करें, इस पथ के पथिकों पर निगरानी रखें। महाराज जी की नकल कर वे महात्मा भी गालियाँ देने लगें; किन्तु बदले में लोग भी कुछ-न-कुछ कह बैठते थे। महात्मा कहने लगे- वहाँ कोई बोलता नहीं, यहाँ तो जबाब देते हैं।

दो-एक साल बाद लौटे तो देखा कि परमहंस जी गद्दे पर बैठे हैं, लोग पंखा झल रहे हैं, चँवर चल रहे हैं। उन्होंने जंगल के ही एक खण्डहर में तख्त

मँगाया, गद्दे बिछवाये, दो आदमियों को चँवर चलाने के लिए नियुक्त कर दिया। हर सोमवार को भीड़ भी लगाने लगे कि लड़का चाहिए तो पचास रुपये, लड़की चाहिए तो पचीस रुपये। किन्तु **'उघरे अन्त न होइ निबाहू'**- एक महीने में ही कौड़ी के दो होकर चल दिये। इस भगवत्पथ में नकल साथ नहीं देता। साधक को स्वधर्म का ही आचरण करना चाहिए।

स्वधर्म क्या है? अध्याय दो में श्रीकृष्ण ने स्वधर्म का नाम लिया था कि स्वधर्म को भी देखकर तू युद्ध करने योग्य है। क्षत्रिय के लिए इससे बढ़कर कल्याणकारी मार्ग नहीं है। स्वधर्म में अर्जुन क्षत्रिय पाया जाता है। संकेत किया कि अर्जुन! जो ब्राह्मण हैं, वेदों का उपदेश उनके लिए क्षुद्र जलाशय के तुल्य है। तू वेदों से ऊपर उठ और ब्राह्मण बन अर्थात् स्वधर्म में परिवर्तन सम्भव है। वहाँ पुनः कहा कि राग-द्वेष के वश में न हो, इन्हें काट। स्वधर्म श्रेयस्कर है - इसका यह आशय नहीं है कि अर्जुन किसी ब्राह्मण की नकल करके उस-जैसी वेशभूषा बना ले।

एक ही कर्मपथ को महापुरुष ने चार श्रेणियों में बाँट दिया - निकृष्ट, मध्यम, उत्तम और अति उत्तम। इन श्रेणी के साधकों को क्रमशः शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण की संज्ञा दी। शूद्रवाली क्षमता से कर्म का आरम्भ होता है और साधना-क्रम में वही साधक ब्राह्मण बन जाता है। इससे भी आगे जब वह परमात्मा में प्रवेश पा जाता है तो **'न ब्राह्मणो न क्षत्रियः न वैश्यो न शूद्रः, चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं।'** वह वर्णों से ऊपर हो जाता है। यही श्रीकृष्ण भी कहते हैं कि **'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्'** - चार वर्णों की रचना मैंने की। तो क्या जन्म के आधार पर मनुष्यों को बाँटा? नहीं, **'गुणकर्म विभागशः'** - गुणों के आधार पर कर्म बाँटा गया। कौन-सा कर्म? क्या सांसारिक कर्म? श्रीकृष्ण कहते हैं- नहीं, नियत कर्म। नियत कर्म क्या है? वह है यज्ञ की प्रक्रिया, जिसमें होता है श्वास में प्रश्वास का हवन, प्रश्वास का श्वास में हवन, इन्द्रिय-संयम इत्यादि, जिसका शुद्ध अर्थ है योग-साधना, आराधना। आराध्य देव तक पहुँचानेवाली विधि-विशेष ही आराधना है। इस आराधना कर्म को ही चार श्रेणियों में बाँटा गया। जैसी क्षमतावाला पुरुष हो, उसे उसी श्रेणी से प्रारम्भ करना चाहिए, यही सबका अपना-अपना स्वधर्म है। यदि वह आगेवालों की नकल करेगा, तो भय को

प्राप्त होगा। सर्वथा नष्ट तो नहीं होगा; क्योंकि इसमें बीज का नाश तो नहीं होता। हाँ, वह प्रकृति के दबाव से भयाक्रान्त, दीन-हीन अवश्य हो जायेगा। शिशु कक्षा का विद्यार्थी स्नातक कक्षा में बैठने लगे, तो स्नातक क्या बनेगा, वह प्रारम्भिक वर्णमाला से भी वंचित रह जायेगा। अर्जुन प्रश्न रखता है कि मनुष्य स्वधर्म का आचरण क्यों नहीं कर पाता?-

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।।३६।।

हे श्रीकृष्ण! फिर यह पुरुष बरबस घसीटकर लगाये हुए के सदृश न चाहता हुआ भी किसकी प्रेरणा से पाप का आचरण करता है? आपके मत के अनुसार क्यों नहीं चल पाता? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।।३७।।

अर्जुन! रजोगुण से उत्पन्न यह काम और यह क्रोध अग्नि के समान भोग भोगने से कभी न तृप्त होनेवाले बड़े पापी हैं। काम-क्रोध, राग-द्वेष के ही पूरक हैं। अभी मैंने जिसकी चर्चा की थी, इस विषय में तू उनको ही शत्रु जान। अब इनका प्रभाव बताते हैं-

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।।३८।।

जैसे धुएँ से अग्नि और मल से दर्पण ढँक जाता है, जैसे जेर से गर्भ ढँका हुआ है, ठीक वैसे ही काम-क्रोधादि विकारों से यह ज्ञान ढँका हुआ है। भींगी लकड़ी जलाने पर धुआँ-ही-धुआँ होता है। अग्नि रहकर भी लपट का रूप नहीं ले पाता। मल से ढँके दर्पण पर जिस प्रकार प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं होता, झिल्ली के कारण जिस प्रकार गर्भ ढँका रहता है, वैसे ही इन विकारों के रहते परमात्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।।३९।।

कौन्तेय! अग्नि के समान भोगों से न तृप्त होनेवाले, ज्ञानियों के निरन्तर बैरी इस काम से ज्ञान ढँका हुआ है। अभी तो श्रीकृष्ण ने काम और क्रोध दो शत्रु बताये। प्रस्तुत श्लोक में वे केवल एक शत्रु काम का नाम लेते हैं। वस्तुतः काम में क्रोध का अन्तर्भाव है। कार्य पूर्ण होने पर क्रोध समाप्त हो जाता है; किन्तु कामना समाप्त नहीं होती। कामना-पूर्ति में व्यवधान पड़ते ही क्रोध पुनः उभर आता है। काम के अन्तराल में क्रोध भी निहित है। इस शत्रु का निवास कहाँ है? इसे ढूँढ़े कहाँ? निवास जान लेने पर इसे समूल नष्ट करने में सुविधा रहेगी। इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं-

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।४०।।

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इसके वास-स्थान कहे जाते हैं। यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोह में डालता है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।४१।।

इसलिए अर्जुन! तू पहले इन्द्रियों को **'नियम्य'**- संयत कर; क्योंकि शत्रु तो इसके अन्तराल में छिपा है। वह तुम्हारे शरीर के भीतर है। बाहर खोजने से वह कहीं नहीं मिलेगा। यह हृदय-देश की, अन्तर्जगत् की लड़ाई है। इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान और विज्ञान का नाश करनेवाले इस पापी काम को ही मार। काम सीधे पकड़ में नहीं आयेगा अतः विकारों के निवास-स्थान का ही घेराव कर लो, इन्द्रियों को ही संयत कर लो। किन्तु इन्द्रियों और मन को संयत करना तो बड़ा कठिन है। क्या यह हम कर पायेंगे? इस पर श्रीकृष्ण आपकी सामर्थ्य बताते हुए प्रोत्साहित करते हैं-

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।४२।।

अर्जुन! इस शरीर से तू इन्द्रियों को परे अर्थात् सूक्ष्म और बलवान् जान। इन्द्रियों से परे मन है यह उनसे भी बलवान् है। मन से परे बुद्धि है और

जो बुद्धि से भी अत्यन्त परे है, वह तुम्हारी आत्मा है। वही हो तुम। इसलिए इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि का निरोध करने में तुम सक्षम हो।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।।४३।।

इस प्रकार बुद्धि से परे अर्थात् सूक्ष्म और बलवान् अपने आत्मा को जानकर, आत्मबल को समझकर, बुद्धि के द्वारा अपने मन को वश में करके अर्जुन! इस कामरूपी दुर्जय शत्रु को मार। अपनी शक्ति को समझकर इस दुर्जय शत्रु को मार। काम एक दुर्जय शत्रु है। इन्द्रियों के द्वारा यह आत्मा को मोहित करता है, तो अपनी शक्ति समझकर, आत्मा को बलवान् समझकर कामरूपी शत्रु को मार। कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह शत्रु आन्तरिक है और युद्ध भी अन्तर्देश का ही है।

निष्कर्ष-

बहुधा गीताप्रेमी व्याख्याताओं ने इस अध्याय को 'कर्मयोग' नाम दिया है; किन्तु यह संगत नहीं है। दूसरे अध्याय में योगेश्वर ने कर्म का नाम लिया। उन्होंने कर्म के महत्त्व का प्रतिपादन कर उसमें कर्मजिज्ञासा जागृत की और इस अध्याय में उन्होंने कर्म को परिभाषित किया कि यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। सिद्ध है कि यज्ञ कोई निर्धारित दिशा है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी किया जाता है, वह इसी लोक का बन्धन है। श्रीकृष्ण जिसे कहेंगे वह कर्म **'मोक्ष्यसेऽशुभात्'** संसार-बन्धन से छुटकारा दिलानेवाला कर्म है।

श्रीकृष्ण ने यज्ञ की उत्पत्ति बतायी। वह देता क्या है? उसकी विशेषताओं का चित्रण किया। यज्ञ करने पर बल दिया। उन्होंने कहा, इस यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। जो नहीं करते वे पापायु, आराम चाहनेवाले व्यर्थ जीते हैं। पूर्व में होनेवाले महर्षियों ने भी इसे करके ही परम नैष्कर्म्य सिद्धि को पाया। वे आत्मतृप्त हैं, उनके लिए कर्म की आवश्यकता नहीं है, फिर भी पीछेवालों के मार्गदर्शन के लिए वे भी कर्म में भली प्रकार लगे रहते थे। उन महापुरुषों से श्रीकृष्ण ने अपनी तुलना की कि मेरा भी अब कर्म करने से

कोई प्रयोजन नहीं है; किन्तु मैं भी पीछेवालों के हित के लिए ही कर्म में बरतता हूँ। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट अपना परिचय दिया कि वे एक योगी थे।

उन्होंने कर्म में प्रवृत्त साधकों को चलायमान न करने को कहा; क्योंकि कर्म करके ही उस साधक को स्थिति प्राप्त करनी है। यदि नहीं करेंगे तो नष्ट हो जायेंगे। इस कर्म के लिए ध्यानस्थ होकर युद्ध करना है। आँखें बन्द हैं, इन्द्रियों से सिमटकर चित्त का निरोध हो चला तो युद्ध कैसा? उस समय काम-क्रोध, राग-द्वेष बाधक होते हैं। इन विजातीय प्रवृत्तियों का पार पाना ही युद्ध है। आसुरी सम्पद् कुरुक्षेत्र, विजातीय प्रवृत्ति को शनैः-शनैः छाँटते हुए ध्यानस्थ होते जाना ही युद्ध है। वस्तुतः ध्यान में ही युद्ध है। यही इस अध्याय का सारांश है, जिसमें न कर्म बताया न यज्ञ। यदि यज्ञ समझ में आ जाय तो कर्म समझ में आये। अभी तो कर्म समझाया ही नहीं गया।

इस अध्याय में केवल स्थितप्रज्ञ महापुरुष के प्रशिक्षणात्मक पहलू पर बल दिया गया। यह तो गुरुजनों के लिए निर्देश है। वे न भी करें तो उन्हें कोई क्षति नहीं और न ऐसा करने में उनका अपना कोई लाभ ही है; किन्तु जिन साधकों को परमगति अभीष्ट है, उनके लिए विशेष कुछ कहा ही नहीं तो यह कर्मयोग कैसे है? कर्म का स्वरूप भी स्पष्ट नहीं है, जिसे किया जाय; क्योंकि 'यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है' - अभी तक उन्होंने इतना ही बताया। यज्ञ तो बताया नहीं, कर्म का स्वरूप स्पष्ट कहाँ हुआ? हाँ, युद्ध का यथार्थ चित्रण गीता में यहीं पाया जाता है।

सम्पूर्ण गीता पर दृष्टिपात करें तो अध्याय दो में कहा कि शरीर नाशवान् है, अतः युद्ध कर। गीता में युद्ध का यही ठोस कारण बताया गया। आगे ज्ञानयोग के सन्दर्भ में क्षत्रिय के लिए युद्ध ही कल्याण का एकमात्र साधन बताया गया और कहा कि यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गयी। कौन-सी बुद्धि? यही कि हार-जीत दोनों दृष्टियों में लाभ ही है, ऐसा समझकर युद्ध कर। फिर अध्याय चार में कहा कि योग में स्थित रहकर हृदय में स्थित अपने इस संशय को ज्ञानरूपी तलवार द्वारा काट। वह

तलवार योग में है। अध्याय पाँच से दस तक युद्ध की चर्चा तक नहीं है। ग्यारहवें अध्याय में केवल इतना कहा कि ये शत्रु मेरे द्वारा पहले से ही मारे गये हैं, तू निमित्त मात्र होकर खड़ा भर हो जा। यश को प्राप्त कर। ये तुम्हारे बिना भी मारे हुए हैं, प्रेरक करा लेगा। तू इन मुर्दों को ही मार।

अध्याय पन्द्रह में संसार सुविरूढ़ मूलवाला पीपल वृक्ष-जैसा कहा गया, जिसे असंगतारूपी शस्त्र द्वारा काटकर उस परमपद को खोजने का निर्देश मिला। आगे के अध्यायों में युद्ध का उल्लेख नहीं है। हाँ, अध्याय सोलह में असुरों का चित्रण अवश्य है, जो नरकगामी हैं। अध्याय तीन में ही युद्ध का विशद चित्रण है। श्लोक ३० से श्लोक ४३ तक युद्ध का स्वरूप, उसकी अनिवार्यता, युद्ध न करनेवालों का विनाश, युद्ध में मारे जानेवाले शत्रुओं के नाम, उन्हें मारने के लिए अपनी शक्ति का आह्वान और निश्चय ही उन्हें काटकर फेंकने पर बल दिया। इस अध्याय में शत्रु और शत्रु का आन्तरिक स्वरूप स्पष्ट है, जिनके विनाश की प्रेरणा दी गयी है। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'शत्रुविनाशप्रेरणा' नाम तृतीयोऽध्यायः।।३।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'शत्रुविनाश-प्रेरणा' नामक तीसरा अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'शत्रुविनाशप्रेरणा' नाम तृतीयोऽध्यायः।।३।।

।। हरिः ॐ तत् सत् ।।